

भारतीय ग्रामीण जीवन के विश्लेषण की समस्या

डॉ० रामनारायण सिंह*

भारत में ग्रामीण जीवन का अध्ययन और विश्लेषण करने की हमें क्यों आवश्यकता है और अगर वास्तव में है तो फिर इस कार्य को कैसे सम्पन्न किया जाय? विस्तार में न जाकर अगर हम पूरे देश पर एक सरसरी नजर डालें, तो ज्ञात होगा कि इसकी जनसंख्या तथा क्षेत्रफल इतने बड़े हैं कि भारतीय ग्राम्य जीवन की कोई ऐसी एक परिभाषा देना लगभग असम्भव है, जो कश्मीर से कन्याकुमारी और कश्मीर से असम तक समान रूप से शत-प्रतिशत लागू हो सकें।

न जाने कितने ग्राम एक-दूसरे से न जाने कितनी दूर-दूर बसे हैं। करीब-करीब हर ग्राम के लोगों के जीवन और रहन-सहन का ढंग जुदा-जुदा है और किसी-न-किसी मायने में हर एक अपने में कोई-न-कोई विशेषता रखता है। उनकी जनसंख्या अलग-अलग है, किसी की बहुत कम और किसी की बहुत अधिक और किसी की बीच की। कुछ अन्य ग्रामों से काफी निकट हैं, कुछ दूर और कुछ बहुत ही दूर, कुछ तो किसी-न-किसी शहर या नगर से दस-पाँच मील के फासले पर ही बसे हुए हैं और कुछ बीसों मील दूर। इसके अतिरिक्त कुछ ग्राम तो बिखरे (Dispersed) होते हैं और कुछ समूहित या केन्द्रक, (Nucleated)। बिखरे ग्रामों के झोंपड़े या मकान ठीक खेतों में ही होते हैं, वहीं उन ग्रामीणों का घर-बार होता है और यदि किसी दुर्घटना या चोरी-डकैती का उन्हें सामना करना पड़ता है तो इसके लिए उन्हें स्वयं ही तैयारी रखनी या करनी पड़ती है। केन्द्रक ग्रामों की स्थिति इनसे भिन्न होती है। अलग-अलग और दूर-दूर खेत होने के बावजूद लोगों के घर-बार वहीं एक दूसरे से सटे होते हैं और आवश्यकता पड़ने पर सभी का सहयोग मिल सकता है। इस प्रकार केवल यह कह देना कि अमुक ग्राम भारतीय ग्राम है, काफी नहीं है, सभी में कुछ न कुछ भिन्नता होती है।

यही नहीं अगर हम ग्रामीण जीवन की वास्तविक प्रक्रिया अर्थात् जीवन-शैली पर गौर करें तो यह भिन्नता और भी जटिल रूप ले लेता है और सामान्य रूप से पूरे देश में जो एकता अथवा समानता हमें दिखलाई देती है, वह भी गड़बड़ा जाती है। वर्ण-व्यवस्था या जाति प्रथा को ग्राम्य ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण भारतीय जीवन का एक देशव्यापी, अखिल भारतीय लक्षण माना जाता है, लेकिन इस प्रथा का यथार्थ रूप सब जगह एक-सा नहीं है। मोटे तौर पर तो सभी जगह यह प्रथा पायी जाती है और सभी लोगों, कम-से-कम हिन्दुओं को चार शास्त्रीय वर्णों में बाँटा जा सकता है। लेकिन प्रत्येक वर्ण के भीतर न जाने कितनी जातियाँ-उपजातियाँ होती हैं और इनके बीच परस्पर सम्बन्ध सभी जगह समान नहीं होते। इसके अतिरिक्त इन जाति-उपजातियों के पेशे या काम-काज भी विभिन्न क्षेत्रों में अलग-अलग होते हैं।

*एम०ए०, पी०एचडी समाजशास्त्र विभाग, पटना विश्वविद्यालय पटना।

उनके पदसोपान भी भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। वर्णों तथा जातियों की प्रधानता तथा प्रभावशीलता भी प्रत्येक क्षेत्र में अलग ढंग की होती है।

इसी प्रकार, कहने के लिए तो कह देते हैं कि ग्राम अपने में आत्मनिर्भर हैं लेकिन वास्तविकता ऐसी नहीं है। हो सकता है, कोई ऐसा जमाना रहा हो जब उनमें यह आत्मनिर्भरता पूर्ण रूप से रही हो, लेकिन जीवन के विकास और आवश्यकताओं के बढ़ने के साथ-साथ यह आत्मनिर्भरता पूर्ण रूप से रही हो, लेकिन जीवन के विकास और आवश्यकताओं के बढ़ने के साथ-साथ यह आत्मनिर्भरता घटती गयी है और आत्मनिर्भरता की यह कमी केवल जीवन की रोजमर्रा की भौतिक आवश्यकताओं तक ही सीमित नहीं है। पारिवारिक शादी-विवाह, जजमानी सम्बन्ध, जातीय पंचायतें, ये सभी ग्रामों की सीमाएँ लॉघती रहती हैं। इसके साथ-साथ आत्मनिर्भरता की यह कमी या ज्यादाती सभी ग्रामों में समान नहीं होती है, इस मामले में भी हर ग्राम एक-दूसरे से भिन्न होता है।

पारिवारिक सम्बन्ध, विशेषतया विवाह सम्बन्ध भी अलग-अलग तरह के होते हैं। कहीं तो अपने ग्राम से काफी दूर के अन्य ग्राम में शादी की जा सकती है, तो कहीं अपने ही या कम-से-कम अपने निकट-से-निकट के ग्राम में ही। कहीं विवाह सम्बन्ध एकतरफा ही होता है, एक ग्राम की लड़की विवाह के फलस्वरूप जिस ग्राम में गयी है, वहाँ की कोई लड़की फिर उस पहली वाली लड़की के ग्राम की बहू बनकर नहीं आ सकती। लेकिन कहीं, मुख्यतः दक्षिणी प्रदेशों में स्थिति बिल्कुल भिन्न है, वहाँ यह सम्बन्ध दुतरफा होता है, ननिहाल अर्थात् मामा के घर-जहाँ से एक पीढ़ी की लड़की आ चुकी होती है-लड़की की शादी करना बहुत अच्छा समझा जाता है। इसी प्रकार कुछ जातियों में विधवा-विवाह वर्जित है, लेकिन कुछ में इसका आम रिवाज है और इसके साथ एक विवाह सम्बन्ध को भंग करके दूसरा सम्बन्ध कर लेने पर भी कोई आपत्ति नहीं है।

आम तौर पर कहा जाता है कि भारत एक धर्म-प्रधान देश है। लेकिन व्यावहारिक अर्थों में इसका कोई विशेष मायने नहीं होता क्योंकि यहाँ हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, सिख, पारसी, बौद्ध, जैन आदि महान् धर्मों के अतिरिक्त न जाने कितने और मत-मतान्तर प्रचलित हैं। अपने-अपने मूल रूप में इनकी कुछ भी सूरत क्यों न रही हो, सदियों के परस्पर सम्पर्क के फलस्वरूप अब सभी एक-दूसरे से प्रभावित हैं, सबके विश्वासों तथा रीति-रिवाजों में एक-दूसरे से आदान-प्रदान हुआ है। लेकिन इस आदान-प्रदान का रूप और गति सभी जगह समान नहीं रही है।

यही चीज कुछ हद तक भाषा के सम्बन्ध में भी लागू होती है। भारतीय संविधान के मान्य अनुसार सोलह भाषाएँ तो हैं लेकिन इनके अतिरिक्त न जाने कितनी सीमावर्ती मिली-जुली भाषाओं का प्रयोग होता है। इनके साथ-साथ एक ही भाषा-भाषी क्षेत्र के भीतर दो-दो चार-चार जिलों की अपनी अलग-अलग स्थानीय बोलियाँ भी होती हैं। यूँ तो बिहार, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, राजस्थान और हरियाणा, इन सभी की भाषा हिन्दी है, लेकिन वास्तव में इन पाँचों राज्यों की हिन्दी एक-सी नहीं है। यही नहीं, केवल उत्तर प्रदेश को ही लें तो ज्ञात होगा कि

अवधी, भोजपुरी, बुन्देलखण्डी और उत्तर-पश्चिम की पच्छिमी तथा कुमाऊँ एवं गढ़वाल की पहाड़ी बोलियाँ एक-दूसरे से भिन्न हैं। यह भिन्नता शहरों में शिक्षित वर्गों में इतनी अधिक नहीं है क्योंकि वहाँ खड़ी बोली ने हिन्दी के एक मानक का रूप ले लिया है, लेकिन ग्रामों में जहाँ आधुनिक शिक्षा और खड़ी बोली का प्रभाव नहीं या बहुत कम है, वहाँ यह भिन्नता बड़ा स्पष्ट और कठिन रूप लिये हुए है। एक ही ग्रामीण क्षेत्र में विभिन्न धर्म और जाति वर्ग समूहों की भिन्न बोलियाँ हैं।

आर्थिक दृष्टि से भू-स्वामी और किसान, मालिक और नौकर, महाजन और कर्जदार, जजमान और आसामी, इन सबके परस्पर-सम्बन्ध भी जगह-जगह अलग हैं।

इसी के साथ-साथ हम देखते हैं कि स्वतन्त्रता के उपरान्त हमारे देश में जो विभिन्न पंचवर्षीय योजनाएँ बनीं, उनके अन्तर्गत देश के सामान्य स्तर को ऊँचा करने के लिए ग्रामों के जीवन में कुछ सुनियोजित और सुनिर्धारित परिवर्तन हुए ही नहीं बल्कि किये गये। कानूनी तौर से और इस प्रकार से किये गये परिवर्तनों के प्रति सब ग्रामीण लोगों का रवैया सब जगह समान नहीं रहा है। कहीं अपने पुराने रंग-ढंग से भिन्न होने के कारण इन्हें नकारा गया, कहीं सहर्ष स्वीकार कर लिया गया और कहीं कुछ ने नकारा और कुछ ने स्वीकार पर पूरे देश में इन परिवर्तनों के स्वरूप और गति में कोई एक ही प्रकार की समानता नहीं रही।

विश्लेषण का मूल उद्देश्य (Main Objectives of Analysis)-क्या समाजशास्त्री नियोजकों-प्रशासकों का अंग मात्र बन जाय? नहीं उसे अपना अलग अस्तित्व तो बनाए ही रखना है। उसके अध्ययन-विश्लेषण का मुख्य उद्देश्य यह नहीं है कि वह प्रशासकों के लिए उनके प्रयोग की सामग्री एकत्र करें। उसका अपना काम तो सामाजिक यथार्थ को समझने-समझाने का ही है। यह और बात है कि उसके परिश्रम का लाभ अन्य लोग भी उठा लें। समाजशास्त्री कभी भी यह सोचकर अपना काम न करे कि उसे प्रशासकों की आवश्यकता पूरी करनी है। अगर उसने ऐसा किया तो अध्ययन का मूल उद्देश्य ही खत्म हो जायेगा, वह भी एक सामान्य सरकारी कर्मचारी या स्वार्थजीवी रह जायेगा और उसके अध्ययन का रूप ही दूषित और मात्र कामचलाऊ रह जायेगा।

विद्यमान ग्रामीण विश्लेषणों के दोष- अभी तक देश में इस सम्बन्ध में जितने अध्ययन हुए हैं, उनमें डी०एन० मजुमदार के अनुसार सात प्रकार की कमियाँ अथवा त्रुटियाँ रही हैं:

(1) अभी तक हमारे यहाँ ग्रामीण जीवन पर जो अध्ययन हुए हैं, वे किसी समस्या विशेष पर आधारित (Problem-oriented) नहीं रहे हैं, अध्ययन के दौरान ग्रामवासियों से प्रश्नों के जो उत्तर मिले उनसे मालूम होता है कि अनुसन्धानों के पीछे हमारा जो दृष्टिकोण रहा है, उसका कोई निश्चित और स्पष्ट उद्देश्य नहीं था। हमने किसी भी परियोजना को चालू करने से पहले पर्याप्त सोच-विचार या विस्तृत नियोजन से काम नहीं लिया। अभी तक अनुसन्धान का कार्य लोग अधिकतर शौकिया तौर पर ही करते आये हैं।

(2) ग्रामीण अध्ययनों और परियोजनाओं की संख्या तो काफी अधिक रही है लेकिन गुणात्मक दृष्टि से उनका कोई विशेष महत्व नहीं रहा है।

(3) ग्रामीण समस्याओं के प्रति न तो कोई समग्र तथा समन्वित दृष्टिकोण से ही काम लिया गया और न हम इन अध्ययनों के फलस्वरूप कोई सैद्धान्तिक पक्ष या निश्चित सर्वेक्षण विधि ही स्थापित कर सके हैं। अधिकतर अनुसन्धानकर्ताओं ने विदेशों में स्थापित किये गए सिद्धान्तों तथा विधियों को ज्यों-का-त्यों मान लिया और यहाँ के अध्ययन में आँख मूँदकर लागू कर दिया।

(4) हमारे अनुसन्धानकर्ताओं और अनुसन्धानों के परिणामों एवं निष्कर्षों का उपयोग करने वाले सरकारी नियोजकों एवं प्रशासकों के बीच कोई सीधा सहयोगी सम्पर्क नहीं रहा है। अध्ययन करते समय इस पर कोई ध्यान नहीं दिया गया कि इसका व्यावहारिक उपयोग क्या होगा या क्या होना चाहिए और क्या जिन लोगों को इनकी जरूरत है उनकी जरूरत को ये पूरा करेंगे या नहीं।

डॉ० मजुमदार का यह मत पूर्णतया उपयोगितावादी है। प्रो० श्रीनिवास और डॉ० एस०सी० दूबे आदि इससे सहमत नहीं हैं। उनके मतानुसार यदि एक बार अध्ययनकर्ता सरकार की माँगों और जरूरतों को पूरा करने लग जायेगा तो उसके पथभ्रष्ट होने का कोई अन्त नहीं होगा। अतः उसे अपना काम विशुद्ध शास्त्रीय तथा वैज्ञानिक दृष्टि से करना चाहिए, सरकार और प्रशासक उसके कार्य का लाभ उठा सकें या उठाना चाहें तो उठा लें, लेकिन स्वयं उसे उसकी ओर से उदासीन रहना चाहिए।

(5) आम तौर पर एक बार अध्ययन कर चुकने के बाद फिर आगे चलकर अनुवर्ती (Follow-up) अध्ययन नहीं किया जाता जिससे यह मालूम हो सके कि हमने अपनी समस्या के जिन-जिन कारणों का पता लगाया था और समस्या के हल के लिए जो सुझाव दिये थे, वे निश्चित रूप से ठीक थे भी या नहीं।

(6) हमने सिर्फ एक-एक गाँव के (Single Village) अध्ययन किए हैं, हमारा अनुसन्धान कार्य अत्यन्त संकुचित (Microcom) रहा है जिसका परिणाम यह है कि वे पूर्ण संरचना (Total Structure) के साथ आवश्यक न्याय नहीं कर पाते। हमारे अधिकतर अध्ययनकर्ताओं ने कार्यात्मकतावादी (Functionalist) दृष्टिकोण से काम लिया है और इसीलिए वे किसी समुदाय के अनेकानेक परस्पर सम्बन्धों की श्रृंखला का पूर्ण रूप से अध्ययन नहीं कर सके हैं। चूँकि डॉ० मजुमदार मूलतः संरचनावादी (Structuralist) थे, इसीलिए उन्होंने इस प्रश्न को काफी बल देकर उठाया था। उनका कहना था कि कोई भी समुदाय स्वयं अपने में ही सीमित तथा पूर्ण नहीं होता, समुदाय के अपने भीतर तथा अन्य समुदायों से उसके परस्पर सम्बन्धों को समझने के लिए इसके ऐतिहासिक संदर्भ तथा परिप्रेक्ष्य की तह में जाना आवश्यक है क्योंकि कोई भी ग्राम या बस्ती तब बनी, जब उसमें लोग आकर बसे, उनके बसने से पहले गाँव या गाँव का समुदाय कोई चीज नहीं थे। कई गाँवों के समूह मिलकर एक इकाई की तरह बसे हैं या फिर अतीत में किसी एक ही व्यक्ति के वंशजों ने कई गाँव बसाए थे।

(7) हमारे यहाँ महत्वपूर्ण आधारी (Base-line) अनुसन्धानों और शायद इसी कारण, ठीक ढंग से सुनिरूपित परिकल्पनाओं (Hypotheses) का बड़ा अभाव है। इसका परिणाम यह हुआ है कि हमारे पास प्रयोगात्मक (Experimental) या क्रिया-कार्यक्रमों (Action Programmes) के लिए कोई उचित आधार नहीं है।

ग्राम्य जीवन के अध्ययन की सफलता की शर्तें—अभी तक हमने जो कुछ कहा है उसी से समस्या का समाधान मिल सकता है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि— (1) ग्रामीण जीवन के अध्ययन के लिए एक स्पष्ट सैद्धान्तिक अर्थात् वैचारिक संदर्भ—परिधि या निर्देश तन्त्र (Conceptual Framework) का होना अत्यावश्यक है, जैसे संस्कृतीकरण (श्रीनिवास), ग्राम—नगर निरन्तरता (रेडफील्ड), व्यापकीकरण तथा संकीर्णीकरण (मैरियट) आदि। वास्तविक व्यवहार में, हो सकता है, इन विभिन्न निर्देश तन्त्रों के प्रयोग में कुछ कठिनाइयाँ उपस्थित हों और हमें उनमें नये तत्त्वों के अनुसार कुछ संशोधन—परिवर्तन करने पड़ें। इसके लिए आवश्यक है कि हमारा पूरा दृष्टिकोण संरचनात्मक—कार्यात्मक—विषयक होना चाहिए। इस दृष्टिकोण से और इसके साथ—साथ डा0 दूबे के पंच—सूत्री परम्परा के सन्दर्भ को भी ध्यान में रखें तो अच्छा होगा।

(2) सांस्कृतिक परिवर्तनों (Culture Change) के अनुभवाश्रित (Empirical) अध्ययनों को प्राथमिकता देनी चाहिए। इस प्रकार के अध्ययन के लिए आवश्यक है कि जिस ग्राम या ग्रामीण समुदाय का हम अध्ययन करें वहाँ की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, वहाँ के इतिहास, वहाँ के लोगों की मान्यताएँ, मूल्य, धार्मिक—सामाजिक परम्पराएँ और विश्वास, रीति—रिवाज, वहाँ की सामूहिक विशेषताएँ पहले से अच्छी तरह समझ लें।

(3) किसी भी अध्ययन के सैद्धान्तिक तथा व्यवहारिक (Theoretical and Applied) पक्षों के परस्पर भेद को अच्छी तरह जान लें। हमें यह भी समझ लेना चाहिए कि क्या हमारा अनुसन्धान या अध्ययन किसी समस्या विशेष पर आधारित है या किसी खास कार्यक्रम की पूर्ति के लिए है।

(4) क्या हमें केवल अनुसन्धान करके वास्तविकता का पता लगाना है या स्थिति को बदलना, उसमें कुछ अपेक्षित सुधार करना है? इसलिए सुधारक और शोधक का अन्तर स्पष्ट होना चाहिए।

(5) अगर हमें सुधारक का कार्य करना है तो हमारे लिए यह आवश्यक है कि जिनकी सुधार—योजना के अन्तर्गत हम काम कर रहे हैं, अर्थात् सरकार, नियोजक और प्रशासक—उससे निकट सम्पर्क बनाए रखें, ताकि हमारे अध्ययन के परिणामों का पूरा—पूरा उपयोग किया जा सके।

(6) लेकिन अगर ऐसा नहीं है और हमारा अध्ययन विशुद्ध शास्त्रीय और वैज्ञानिक है, तो भी ग्राम्य जीवन से सम्बन्धित विभिन्न सरकारी—गैरसरकारी संस्थाओं के बीच परस्पर—सहयोग और उनके कार्यक्रमों में परस्पर समन्वय होना जरूरी है।

(7) अध्ययन की विभिन्न विधियों में हमें उन्हीं के इस्तेमाल पर अधिक बल देना चाहिए जो ग्राम्य जीवन के लिए अधिक उपयुक्त और फलोत्पादक हों। ऐसी विधियों में प्रत्यक्ष सहभागिता—प्रेषण (Direct Participation-Observation), संरचित साक्षात्कार (Structured Interview) और एकल विषय अध्ययन विधि (Case Study Method) का उपयोग करना चाहिए। ग्रामवासियों में प्रश्नावलियों (Questionnaire) या अनुसूचियों (Schedules) से काम नहीं चलता क्योंकि उनका

शैक्षिक तथा बौद्धिक स्तर एक विशेष प्रकार का और इनके प्रतिकूल होता है। (8) अध्ययन के दौरान हम जिस शब्दावली, भाषा या परिभाषिक शब्दों का प्रयोग करें, उनके अर्थ शत—प्रतिशत स्पष्ट होने चाहिए। इसके साथ—साथ यह भी आवश्यक है कि इस विषय पर जितने भी लोग या संस्थाएँ काम कर रही हों, सभी उनका उन्हीं अर्थों का प्रयोग करें। इससे एक लाभ तो यह होगा कि हम अपने साक्षत्कार में जो उत्तर चाहेंगे, वही मिलेंगे, दूसरे, अन्य लोगों के अध्ययन से प्राप्त तथ्यों, (Data) से मिलान करने में आसानी होगी और तीसरे सामग्री एकत्र करने (Data Collection) उस सामग्री के संसाधन (Processing) और उसके विश्लेषण में आसानी और एकरूपता होगी।

(9) अध्ययन—विश्लेषण के दौरान प्राप्त तथ्यों को अन्य सूत्रों से मिला लेना बहुत जरूरी है। इस सम्बन्ध में सरकारी, रिकार्ड, गजेटियर और जनगणना सम्बन्धी रिपोर्ट बड़ी सहायक सिद्ध हो सकती हैं।

(10) अन्त में, ग्राम्य जीवन के अध्ययन का सबसे प्रमुख विषय उसका सांस्कृतिक—सामाजिक परिवर्तन है, इसलिए जहाँ तक हो सके हम ऐसे ग्रामों का अध्ययन करें जो वास्तव में भारतीय ग्राम्य जीवन का प्रतिनिधित्व कर सकें। प्रतिनिधित्व की समस्या को हल करने में यदि इस पंच—सूत्री परिकल्पना को ध्यान में रखें तो अच्छा होगा—

- (1) वहाँ की बोली तत्सम्बन्धी भाषा—भाषी क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करती हो;
- (2) वहाँ की जातियों के अनुष्ठानों एवं संस्कारों का पदसोपान (ritual Hierarchy) तत्सम्बन्धी सांस्कृतिक क्षेत्र के पदसोपान का प्रतिनिधित्व करता हो;
- (3) एक ही सांस्कृतिक अथवा उप—सांस्कृतिक और भाषा—भाषी क्षेत्र में सामाजिक व्यवहारों, अनुष्ठानों एवं संस्कारों (Rituals), रीति—रिवाजों एवं परम्पराओं, आर्थिक विशेषताओं, पहनाव—उढ़ाव के तरीकों आदि में समानता हो;
- (4) किसी जाति विशेष के प्रभुत्व की दृष्टि के किसी ग्राम और उससे सम्बन्धित क्षेत्र में काफी अन्तर हो सकते हैं;
- (5) किसी एक क्षेत्र के सभी ग्रामों में पायी जाने वाली किसी सामाजिक संस्था के भीतर क्षेत्रीय समानताओं के साथ—साथ जगह—जगह पूर्णतः स्थानीय हेर—फेर भी हो सकते हैं, इसलिए उस संस्था की संरचना और प्रकार्य को पूरी तौर से समझने के लिए आवश्यक है कि उसके भिन्न—भिन्न रूपों और परिवर्तनों को समझ लिया जाय। इसके लिए एक ही संस्था के लिए एक से अधिक ग्रामों के अध्ययन की आवश्यकता है।

सन्दर्भ ग्रन्थः—

- (1) मजुमदार, डी0एन0— रुरल एनालाइसिस प्रोब्लेम एण्ड पर्सपेक्ट्स इन इस्टर्न एन्ध्रपोलोजिस्ट
- (2) दूबे, एस0सी0 — ग्रामीण भारत
- (3) पटेल, योगेश — रुरल स्टडीज इण्डियन विलेज
- (4) सिंह, जे0पी0 — बदलते भारत की समस्याएँ

